Leadership, Education, Personality: An Interdisciplinary Journal ISSN: 2524-6178
www.sibe.rpress.co.in, Vol. 18, Issue 07 July2023, UGC CARE 1

भारत के ऐतिहासिक जनजातीय आंदोलन: संघर्ष और स्वाभिमान की कहानी

डॉ. लक्ष्मी देवी सैनी
प्रवक्ता - इतिहास
पं. दीनदयाल उपाध्याय राजकीय मॉडल इंटर कॉलेज सेमरा
आगरा (उत्तर प्रदेश)

संक्षेप

भारत के प्रमुख जनजातीय आंदोलन आदिवासी समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पहचान की रक्षा के लिए उभरे संघर्षों का प्रतीक हैं। ये आंदोलन ब्रिटिश काल से लेकर आधुनिक भारत तक जारी रहे हैं और विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रूपों में सामने आए हैं। संथाल विद्रोह, भील आंदोलन, मुंडा उलगुलान, टाना भगत आंदोलन, रामपा विद्रोह जैसे आंदोलन आदिवासियों के साहस, संगठन और नेतृत्व की मिसाल हैं। स्वतंत्रता के बाद झारखंड, गोंडवाना, बोडो और नर्मदा बचाओ जैसे आंदोलन इस बात का प्रमाण हैं कि जनजातीय समुदाय आज भी जल, जंगल और जमीन के अधिकारों के लिए संघर्षरत हैं। इन आंदोलनों ने न केवल स्थानीय शोषण के विरुद्ध चेतना जगाई, बल्कि राष्ट्रीय नीतियों को भी प्रभावित किया। इनका योगदान भारत के लोकतांत्रिक, सामाजिक न्यायपूर्ण और बहुलतावादी ढांचे को सुदृढ़ करने में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है।

कीवर्ड्स :- जनजातीय आंदोलन, आदिवासी संघर्ष, उलगुलान, जल जंगल जमीन

परिचय

भारत का जनजातीय समाज देश की सांस्कृतिक विविधता और सामाजिक संरचना का एक महत्वपूर्ण अंग है। देश की कुल जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा विभिन्न जनजातीय समुदायों से संबंधित है, जो मुख्यतः प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित जीवनशैली अपनाते हैं और सदियों से अपने पारंपरिक रीति-रिवाजों, धार्मिक मान्यताओं एवं सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखे हुए हैं। किंतु औपनिवेशिक शासन, बाहरी शोषण, वन एवं भूमि अधिकारों में हस्तक्षेप, और सरकारी नीतियों की उपेक्षा के कारण जनजातीय समुदायों को भारी संघर्ष का सामना करना पड़ा। इसी संघर्ष ने अनेक जनजातीय आंदोलनों को जन्म दिया, जिन्होंने न केवल स्थानीय उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह किया, बल्कि स्वतंत्रता संग्राम में भी योगदान दिया। 19वीं और 20वीं शताब्दी के दौरान भारत के विभिन्न भागों में जैसे झारखंड, ओडिशा, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और पूर्वोत्तर राज्यों में सशस्त्र, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन उभरे। संथाल विद्रोह (1855), भील आंदोलन, मुंडा आंदोलन (उलगुलान), टाना भगत आंदोलन, और अल्लूरी सीताराम राजू के नेतृत्व में रामपा विद्रोह जैसे

अनेक संघर्षों ने इस बात को स्पष्ट किया कि आदिवासी समाज अपने अधिकारों के लिए संगठित होकर लड़ने में सक्षम है। इन आंदोलनों की विशेषता यह थी कि ये न केवल आर्थिक और भौगोलिक शोषण के विरुद्ध थे, बल्कि इनका गहरा संबंध सांस्कृतिक अस्मिता और आत्मनिर्भरता से भी था। स्वतंत्रता के पश्चात भी झारखंड, गोंडवाना, बोडो, और नर्मदा बचाओ जैसे आंदोलन यह दर्शाते हैं कि आदिवासी समुदाय अभी भी जल, जंगल और जमीन के अधिकार को लेकर संघर्षरत हैं। इन आंदोलनों ने भारतीय संविधान में 5वीं और 6वीं अनुसूचियों, PESA अधिनियम और वन अधिकार अधिनियम जैसी व्यवस्थाओं को जन्म देने में सहायक भूमिका निभाई। इस प्रकार, भारत के जनजातीय आंदोलन केवल ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि यह भारत के लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और अधिकार आधारित राजनीति के निर्माण में एक सशक्त स्तंभ के रूप में देखे जा सकते हैं।[1]

अध्ययन का महत्व: भारत के प्रमुख जनजातीय आंदोलन

भारत के प्रमुख जनजातीय आंदोलनों का अध्ययन हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। ये आंदोलन केवल प्रतिरोध की घटनाएँ नहीं, बल्कि आदिवासी समाज की अस्मिता, आत्मसम्मान और अधिकारों की संघर्षगाथा हैं। इनसे हमें यह पता चलता है कि विकास और शासन की मुख्यधारा से बाहर समझे जाने वाले समुदायों ने किस प्रकार अपने अस्तित्व की रक्षा की और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाई। यह अध्ययन वर्तमान में भी प्रासंगिक है, जब जल, जंगल और जमीन के प्रश्न फिर से उभर रहे हैं और आदिवासी समाज नए प्रकार के विस्थापन और दमन का सामना कर रहा है। जनजातीय आंदोलनों का विश्लेषण हमें समावेशी नीतियों, न्यायपूर्ण विकास और सांस्कृतिक विविधता के संरक्षण की दिशा में सोचने की प्रेरणा देता है। अतः यह विषय न केवल ऐतिहासिक, बल्कि समकालीन सामाजिक विमर्श में भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।[2]

जनजातीय आंदोलन

जनजातीय आंदोलन उन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संघर्षों को कहा जाता है, जिनके माध्यम से भारत के विभिन्न जनजातीय समुदायों ने अपने अधिकारों की रक्षा, अस्तित्व की पहचान, और शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाई। ये आंदोलन सामान्यतः तब उभरते हैं जब आदिवासी समाज के पारंपरिक जीवन, संसाधनों और संस्कृति पर बाहरी हस्तक्षेप या नियंत्रण की कोशिश होती है, जैसे—जमीन से बेदखली, वन अधिकारों का हनन, जबरन विस्थापन, सांस्कृतिक दमन या सरकारी नीतियों द्वारा उपेक्षा। जनजातीय आंदोलन केवल प्रतिरोध की प्रक्रिया नहीं हैं, बल्कि यह आत्मसम्मान, स्वायत्तता और सामाजिक न्याय की मांग के प्रतीक भी हैं। भारत में ऐसे आंदोलनों की परंपरा प्राचीन काल से रही है, परंतु औपनिवेशिक काल में इनका स्वरूप

अधिक उग्र और संगठित हुआ, जब ब्रिटिश शासन ने वन कानून, भू-राजस्व प्रणाली और व्यापारिक नियंत्रण थोपे, जिससे आदिवासी जीवन संकट में आ गया। स्वतंत्रता के बाद भी जनजातीय क्षेत्रों में विकास की एकतरफा अवधारणाएं, खनन परियोजनाएं और औद्योगिक विस्तार के कारण आंदोलन जारी रहे, जैसे झारखंड, बस्तर, गोंडवाना और नर्मदा बचाओ आंदोलन। जनजातीय आंदोलन अक्सर अपनी संरचना में स्थानीय नेतृत्व, सांस्कृतिक प्रतीकों, धार्मिक चेतना और पारंपरिक जनसंगठनों का सहारा लेते हैं, जिससे वे केवल प्रतिरोध की प्रक्रिया नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक चेतना का हिस्सा बन जाते हैं। अतः जनजातीय आंदोलन को भारत के सामाजिक इतिहास की एक ऐसी धारा माना जा सकता है जो हाशिए पर खड़े समाजों की सशक्त उपस्थिति और उनके अधिकारों की मांग को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है।[3]

जनजातीय समाज की स्थिति और संघर्ष के कारण

भारत का जनजातीय समाज एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत, प्रकृति-आधारित जीवनशैली और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के साथ सदियों से जीवित रहा है। ये समुदाय जंगल, पहाड़ और नदियों के आसपास बसी बस्तियों में रहते हैं जहाँ उनका जीवन पूरी तरह से प्रकृति पर निर्भर होता है। उनकी संस्कृति में सामूहिकता, पारंपरिक ज्ञान, लोक विश्वास, जनसंहार, धार्मिक अनुष्ठान और प्रकृति पूजा का विशेष स्थान होता है।

1. पारंपरिक जीवनशैली और संस्कृति

भारत के जनजातीय समुदाय सदियों से प्रकृति-आधारित जीवनशैली अपनाते आ रहे हैं, जिसमें जंगल, पहाड़, नदी और पशुपालन उनके जीवन का मूल आधार हैं। इनका समाज सामूहिक जीवन, पारंपरिक रीति-रिवाज़, लोककथाएं, गीत-संगीत, और प्रकृति पूजन जैसे तत्त्वों से समृद्ध रहा है। वे आत्मनिर्भर इकाइयों के रूप में कार्य करते हैं, जिनमें बाहरी हस्तक्षेप की आवश्यकता न्यूनतम होती है। किंतु जब आधुनिक सभ्यता और राज्य नियंत्रण की प्रक्रियाएँ उनके जीवन में प्रवेश करने लगीं, तब उनके सामाजिक संतुलन और सांस्कृतिक पहचान पर संकट मंडराने लगा।[4]

2. भूमि का विस्थापन, वन अधिकारों का हनन

जनजातीय समाज की सबसे बड़ी त्रासदी उनकी भूमि और जंगलों से जबरन बेदखली है। ब्रिटिश शासनकाल से ही वनों को सरकारी संपत्ति घोषित कर दिया गया, जिससे वे कानूनी रूप से अपनी ही धरती पर अवैध घोषित कर दिए गए। औद्योगीकरण, खनन, जलविद्युत परियोजनाओं और इन्फ्रास्ट्रक्चर विकास के नाम पर उनकी ज़मीनें अधिग्रहित की गईं, जिससे वे विस्थापित हुए और उनकी आजीविका, संस्कृति तथा सामाजिक ताना-बाना टूट गया।

3. शोषण: सामंती व्यवस्था, व्यापारियों और अंग्रेजों द्वारा शोषण

जनजातीय लोगों को हमेशा बाहरी ताकतों द्वारा शोषण का शिकार बनाया गया। पहले सामंती ज़मींदारों और फिर स्थानीय महाजनों ने उन्हें ऊँचे ब्याज पर ऋण देकर आर्थिक दासता में जकड़ा। अंग्रेजों ने भी करों, लगानों और श्रम अधिनियमों के माध्यम से उन्हें शोषित किया। इससे उनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई और वे कर्ज़, भूखमरी तथा श्रम शोषण की त्रासदी में फंस गए।[5]

4. मिशनरियों और बाहरी प्रभावों से सांस्कृतिक संकट

जनजातीय समाज की सांस्कृतिक पहचान को भी मिशनरियों और तथाकथित 'सभ्य बनाने' वाली बाहरी ताकतों ने चुनौती दी। ईसाई मिशनरियों ने धार्मिक रूपांतरण के प्रयास किए, जिससे कई बार सांस्कृतिक विभाजन पैदा हुआ। उनके पारंपरिक देवी-देवताओं, अनुष्ठानों और जीवनशैली को 'असभ्य' करार देकर बदले जाने का प्रयास हुआ, जिससे उनकी सांस्कृतिक अस्मिता कमजोर हुई और उनमें पहचान का संकट गहराने लगा।

5. सरकारी नीतियों का दुष्प्रभाव (जैसे वन कानून, भू-अधिग्रहण)

स्वतंत्रता के बाद भी सरकार की कई नीतियाँ जनजातीय हितों के विरुद्ध रहीं। वन संरक्षण अधिनियम (1980), भूमि अधिग्रहण कानून (1894, और बाद में 2013), तथा एकतरफा विकास परियोजनाएं आदिवासियों के विस्थापन और हाशिएकरण के मुख्य कारण बने। उन्हें 'विकास' के नाम पर उनके जल, जंगल और जमीन से वंचित कर दिया गया, और विस्थापित समुदायों को उचित पुनर्वास तक नहीं मिला। साथ ही, कल्याणकारी योजनाएं भी प्रशासनिक भ्रष्टाचार और राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी के कारण ज़मीनी स्तर पर असर नहीं दिखा सकीं।[6]

भारतीय जनजातीय आंदोलनों का वर्गीकरण

1. सशस्त्र विद्रोह

भारतीय जनजातीय आंदोलनों का प्रारंभिक स्वरूप सशस्त्र विद्रोहों के रूप में सामने आया, जो मुख्यतः ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों, भूमि की लूट और सांस्कृतिक अपमान के विरुद्ध थे। इन विद्रोहों में संथाल विद्रोह (1855-56), भील विद्रोह (1818–1820), और मुंडा आंदोलन (1899–1900) प्रमुख उदाहरण हैं। संथाल विद्रोह झारखंड-बिहार क्षेत्र के संथालों द्वारा ब्रिटिश अधिकारियों, महाजनों और ज़मींदारों के त्रस्तकारी शासन के विरुद्ध संगठित होकर किया गया था। सिद्धू और कान्हू मुर्मू जैसे नेताओं के नेतृत्व में यह विद्रोह इतना व्यापक था कि अंग्रेजों को सैन्य कार्रवाई करनी पड़ी। भील विद्रोह राजस्थान और मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में हुआ, जहाँ भीलों ने विदेशी शासन और सामाजिक शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाई। भीमा

नायक जैसे नायकों ने इस विद्रोह को एक नई धार दी। मुंडा आंदोलन को "उलगुलान" कहा जाता है, जिसका नेतृत्व बिरसा मुंडा ने किया। यह आंदोलन न केवल आर्थिक शोषण के विरुद्ध था, बल्कि यह आदिवासी धर्म, संस्कृति और राजनीतिक स्वराज्य के विचार को सामने लाने वाला एक सशक्त प्रयास था। ये सशस्त्र विद्रोह अपने समय के सामाजिक विद्रोह मात्र नहीं थे, बल्कि उन्होंने आदिवासी चेतना और स्वाभिमान को एक सशक्त अभिव्यक्ति दी, जो आगे चलकर अन्य आंदोलनों की प्रेरणा बने।[7]

2. सांस्कृतिक/धार्मिक आंदोलन

जनजातीय समाज ने केवल शस्त्र उठाकर नहीं, बल्कि अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक अस्मिता की रक्षा हेतु भी आंदोलन किए। इन आंदोलनों का स्वरूप मुख्यतः आध्यात्मिक पुनर्जागरण और सांस्कृतिक पहचान की पुनर्स्थापना से जुड़ा रहा। टाना भगत आंदोलन (1914), जो झारखंड क्षेत्र में जतरा भगत द्वारा आरंभ किया गया, एक शांतिपूर्ण धार्मिक सुधार आंदोलन था। इसमें आदिवासियों को स्वच्छता, सादगी, अहिंसा और सत्यनिष्ठा का मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया गया। इस आंदोलन ने गांधीवादी विचारधारा को आत्मसात करते हुए आदिवासी समाज में आत्मचिंतन और सामाजिक अनुशासन की नई दृष्टि प्रस्तुत की। भील धर्म आंदोलन ने भी सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता की भावना को जागृत किया, जिसमें आदिवासियों ने अपनी धार्मिक प्रथाओं की ओर वापसी करते हुए बाहरी धर्मांतरण प्रयासों का विरोध किया। इन आंदोलनों ने जनजातीय समाज को बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त रखने की चेष्टा की और उन्हें आत्मसम्मान की भावना से भर दिया। सांस्कृतिक आंदोलनों की विशेषता यह रही कि इनमें हिंसा का स्थान आत्मशुद्धि, सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने लिया।[8]

3. राजनीतिक आंदोलन

राजनीतिक आंदोलनों के माध्यम से जनजातीय समुदायों ने अपनी प्रशासनिक स्वायत्तता, पहचान और पृथक राज्य की मांगों को सामने रखा। इन आंदोलनों ने संविधानिक प्रावधानों और लोकतांत्रिक प्रक्रिया का सहारा लेते हुए आदिवासियों के लिए स्थायी राजनीतिक संरचना की मांग की। झारखंड आंदोलन इसका प्रमुख उदाहरण है, जो बिहार से अलग होकर एक आदिवासी बहुल राज्य की स्थापना के लिए कई दशकों तक चलता रहा। जयपाल सिंह मुंडा, विनोद बिहारी महतो और शिबू सोरेन जैसे नेताओं ने इस आंदोलन को वैचारिक और संगठनात्मक रूप दिया, जिससे 2000 में झारखंड राज्य का निर्माण संभव हुआ। इसी प्रकार गोंडवाना आंदोलन मध्य भारत के गोंड आदिवासियों द्वारा गोंडवाना राज्य की मांग को लेकर किया गया। यह आंदोलन राजनीतिक भागीदारी, प्रशासनिक स्वायत्तता और सांस्कृतिक अधिकारों की बहाली की मांग करता है। इन आंदोलनों ने लोकतांत्रिक संस्थानों में जनजातीय प्रतिनिधित्व और निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी की आवश्यकता को रेखांकित किया। राजनीतिक आंदोलनों के माध्यम से आदिवासी समाज ने यह सिद्ध

किया कि वे न केवल पारंपरिक सामाजिक संरचना में बल्कि आधुनिक शासन प्रणाली में भी अपनी सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं।[9]

4. अधिकार आधारित आंदोलन

स्वतंत्र भारत में जनजातीय आंदोलनों का एक महत्वपूर्ण स्वरूप अधिकार आधारित संघर्ष के रूप में विकसित हुआ, जहाँ आदिवासी समाज ने *जल, जंगल और जमीन* पर अपने पारंपरिक अधिकारों की पुनर्स्थापना की मांग की। इन आंदोलनों ने राज्य से संवैधानिक अधिकारों की रक्षा और सामाजिक न्याय की मांग की। वन अधिकार आंदोलन ने वनवासियों को उनके परंपरागत निवास स्थान पर स्वामित्व दिलाने हेतु आवाज़ उठाई, जिसका परिणाम 2006 में "वन अधिकार अधिनियम" (Forest Rights Act) के रूप में सामने आया। इसने आदिवासियों को भूमि अधिकार, वन उत्पादों पर नियंत्रण, और सामुदायिक संसाधनों का उपयोग करने का अधिकार प्रदान किया। इसके अतिरिक्त जल-जंगल-जमीन आंदोलन जैसे *नर्मदा बचाओ आंदोलन, जंगल बचाओ आंदोलन*, और *POSCO विरोध आंदोलन* ने यह सिद्ध किया कि विकास परियोजनाओं के नाम पर जनजातीय विस्थापन न केवल आर्थिक संकट उत्पन्न करता है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विनाश का कारण भी बनता है। इन आंदोलनों में महिलाओं की भी सक्रिय भागीदारी रही, जो यह दर्शाता है कि अधिकार आधारित संघर्ष एक समावेशी और सशक्त सामाजिक प्रक्रिया का हिस्सा है। इस वर्ग के आंदोलन आधुनिक भारत के विकास मॉडल पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं और सामाजिक न्याय तथा सहभागी लोकतंत्र की मांग को केंद्रीय मंच पर लाते हैं।[10]

प्रमुख जनजातीय नायकों की भूमिका और उनका दृष्टिकोण

भारतीय जनजातीय आंदोलनों के इतिहास में कुछ नायकों की भूमिका अत्यंत प्रेरणादायी और केंद्रीय रही है, जिन्होंने न केवल अपने समुदायों को उत्पीड़न के विरुद्ध संगठित किया, बल्कि सामाजिक चेतना, धार्मिक पुनर्जागरण और आत्मसम्मान का संदेश भी दिया। इन नायकों में बिरसा मुंडा, सिद्धू-कान्हू, अल्लूरी सीताराम राजू और तिलका मांझी प्रमुख हैं, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में जनजातीय चेतना को जगाया और एक संगठित विद्रोह की दिशा में कदम बढ़ाया। बिरसा मुंडा ने उलगुलान आंदोलन के माध्यम से न केवल अंग्रेजों और दीवानों के आर्थिक व सांस्कृतिक शोषण के विरुद्ध मोर्चा खोला, बल्कि आदिवासी धर्म और संस्कृति की रक्षा हेतु एक नए सामाजिक और धार्मिक आंदोलन की शुरुआत की। उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा हो रहे धर्मांतरण का विरोध करते हुए 'बिरसाइत' पंथ की स्थापना की, जिसमें एकेश्वरवाद, स्वच्छता, नैतिकता और आत्मसंयम को प्रमुखता दी गई। इसी प्रकार, सिद्धू और कान्हू मुर्मू ने 1855 में संथाल विद्रोह का नेतृत्व किया, जो ब्रिटिश शासन, महाजनों और ज़मींदारों के खिलाफ एक सशस्त्र संघर्ष था। [11] यह आंदोलन ब्रिटिश सत्ता को खुली चुनौती देने वाला पहला बड़ा आदिवासी विद्रोह बना, जिसमें हजारों संथालों ने अपने जीवन की

आहुति दी। उनका नेतृत्व पूरी तरह स्थानीय था, और उन्होंने अपने पारंपरिक ढांचे के भीतर जनसंगठन खड़ा किया। वहीं अल्लूरी सीताराम राजू, जो दक्षिण भारत के आदिवासी क्षेत्रों में सक्रिय थे, ने रामपा विद्रोह का नेतृत्व किया। उन्होंने आदिवासियों को अंग्रेजों के वन कानूनों के विरुद्ध संगठित किया और गुरिल्ला युद्ध की रणनीतियों का प्रयोग करते हुए अंग्रेजी सत्ता को लंबे समय तक परेशान किया। उन्होंने खुद को भगवान का अवतार घोषित नहीं किया, लेकिन जनता में एक धार्मिक-सांस्कृतिक नायक के रूप में पूजित हुए। तिलका मांझी, जिन्होंने 1784 में भागलपुर क्षेत्र में ब्रिटिश राज के खिलाफ पहला संगठित आदिवासी विद्रोह किया, को भारत का प्रथम आदिवासी क्रांतिकारी माना जाता है। उन्होंने अपने पारंपरिक तीर-कमान से अंग्रेजों को चुनौती दी और अंततः फांसी पर चढ़ा दिए गए। इन सभी नायकों का नेतृत्व स्थानीय था, यानी वे उसी जनजातीय समुदाय से आते थे जिसके लिए संघर्ष कर रहे थे, और उन्होंने बाहरी विचारों को अपनाने के बजाय अपनी सांस्कृतिक जड़ों से ऊर्जा प्राप्त की। उनके नेतृत्व का स्वरूप करिश्माई, सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से जुड़ा हुआ और सामूहिक चेतना पर आधारित था। ये सभी नेता धार्मिक और सामाजिक सुधारक भी थे, जिन्होंने अपने समुदायों को केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि नैतिक और सांस्कृतिक रूप से भी सशक्त करने का प्रयास किया। उनके दृष्टिकोण में आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान और सामाजिक समानता का गहरा बोध था, जो आज के लोकतांत्रिक मूल्यों से मेल खाता है। इन जननायकों ने जनजातीय आंदोलनों को केवल विद्रोह तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उन्हें एक वैचारिक, सांस्कृतिक और नैतिक आंदोलन में परिवर्तित कर दिया, जो भारत के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास की एक अमिट धरोहर बन चुका है।[12]

जनजातीय महिलाओं की सामाजिक भूमिका और उनके आंदोलन में योगदान

भारत की जनजातीय महिलाएं न केवल अपने समुदायों की रीढ़ हैं, बल्कि उन्होंने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में सक्रिय भागीदारी निभाकर जनजातीय समाज की स्थिरता और चेतना को सशक्त किया है। जनजातीय समाजों में महिलाओं की स्थिति तुलनात्मक रूप से अधिक स्वायत्त होती है, जहाँ वे न केवल घरेलू कार्यों में बल्कि कृषि, पशुपालन, वन-संग्रहण, सामाजिक अनुष्ठानों, निर्णय प्रक्रिया और पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में भी बराबर की भूमिका निभाती हैं। उनकी यह बहुआयामी भूमिका आंदोलनों में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जहाँ वे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में संघर्ष का नेतृत्व करती रही हैं। उदाहरणस्वरूप, झारखंड, छत्तीसगढ़ और ओडिशा जैसे राज्यों में जल, जंगल और जमीन के अधिकारों के लिए हुए आंदोलनों में महिलाएं सबसे आगे रहीं। नर्मदा बचाओ आंदोलन, जंगल बचाओ आंदोलन, और POSCO विरोध आंदोलन जैसे संघर्षों में जनजातीय महिलाओं की उपस्थिति और नेतृत्व ने आंदोलन को नैतिक आधार और स्थायित्व प्रदान किया। इन महिलाओं ने न केवल धरना, प्रदर्शन और विरोध रैलियों में भाग लिया, बल्कि प्रशासनिक अधिकारियों से संवाद, न्यायिक याचिकाओं और पर्यावरणीय चेतना को भी स्वर दिया। उनकी भूमिका केवल

संख्या में भागीदारी तक सीमित नहीं रही, बल्कि उन्होंने आंदोलन की दिशा, दृष्टिकोण और रणनीति को भी प्रभावित किया। जनजातीय महिलाएं अक्सर अपनी मातृसत्तात्मक या सामूहिक जीवनशैली के अनुभव से प्रेरणा लेती हैं, जिससे उनमें नेतृत्व, संघर्षशीलता और संगठन क्षमता जन्मजात होती है। [13] सामाजिक न्याय की लड़ाई में उनकी भागीदारी ने यह सिद्ध किया कि वे केवल पीड़िता नहीं हैं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की प्रेरक शक्ति भी हैं। साथ ही, जनजातीय महिलाओं ने अपने पारंपरिक ज्ञान जैसे बीज-संरक्षण, जड़ी-बूटियों की चिकित्सा, और खाद्य सुरक्षा से जुड़े विषयों को आंदोलनों से जोड़कर विकास और पर्यावरण के बीच संतुलन की बहस को नई दिशा दी है। उनकी सांस्कृतिक समझ और समुदाय के प्रति संवेदनशीलता ने आंदोलनों को अधिक मानवीय और समावेशी बनाया। इसके अतिरिक्त, जनजातीय महिलाएं मिशनरियों, खनन कंपनियों, शराब माफिया और प्रशासनिक दमन के खिलाफ भी मुखर रही हैं। कई आंदोलनों में महिलाओं ने शराब विरोधी मोर्चा भी संभाला, जिससे समाज में नैतिक जागरूकता बढ़ी। उनकी भूमिका ने यह भी दर्शाया कि जनजातीय महिलाओं की आवाज़ को अनदेखा करके कोई भी सामाजिक आंदोलन सफल नहीं हो सकता। वे संघर्ष की आत्मा और संगठन की शक्ति हैं। उनकी सहभागिता ने यह भी उजागर किया कि लैंगिक समानता, अधिकारों की प्राप्ति और सामाजिक चेतना को यदि एक साथ जोड़ा जाए, तो आंदोलन अधिक सशक्त, व्यापक और टिकाऊ बनते हैं। इस प्रकार, जनजातीय महिलाओं का योगदान केवल आंदोलनों की सफलता में नहीं, बल्कि समूचे जनजातीय पुनर्जागरण और सामाजिक परिवर्तन में आधारशिला के समान है, जिसे इतिहास और वर्तमान – दोनों में गंभीरता से मान्यता दी जानी चाहिए।[14]

जनजातीय आंदोलनों का समकालीन भारत में महत्व

समकालीन भारत में जनजातीय आंदोलनों का महत्व केवल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सीमित नहीं है, बल्कि यह वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संरचनाओं को भी प्रभावित करता है। ये आंदोलन आज भी आदिवासी समाज की पहचान, अस्मिता और अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्षशील हैं। आदिवासी पहचान और अस्मिता की राजनीति ने बीते दशकों में एक नया रूप लिया है, जहाँ जनजातीय समुदाय अपने पारंपरिक रीति-रिवाजों, भाषा, संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था को बचाए रखने के साथ-साथ राजनीतिक मंचों पर अपनी विशिष्टता के लिए मुखर हो रहे हैं। झारखंड, छत्तीसगढ़, मिज़ोरम और नागालैंड जैसे राज्यों की स्थापना और उनके प्रशासन में आदिवासी भागीदारी इस राजनीतिक चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त अनुसूचित क्षेत्रों की विशेष संवैधानिक व्यवस्था (5वीं और 6वीं अनुसूचियाँ), और पेसा अधिनियम जैसे कानूनों के पीछे भी जनजातीय आंदोलनों का गहन प्रभाव रहा है। समकालीन भारत में वैश्वीकरण, कॉर्पोरेट अधिग्रहण और भूमि विस्थापन से उपजे संकटों ने इन आंदोलनों को नई ऊर्जा दी है। खनन, औद्योगीकरण, बांध निर्माण, और विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs) की स्थापना के नाम पर आदिवासी क्षेत्रों में भूमि अधिग्रहण की घटनाएं

लगातार बढ़ रही हैं, जिससे लाखों आदिवासी अपने पारंपरिक आवास, आजीविका और सांस्कृतिक आधार से वंचित हो गए हैं। इन संकटों के विरोध में खड़े हुए जनजातीय आंदोलन अब केवल पारंपरिक ढंग से विरोध न कर के, बल्कि कानूनी लड़ाई, पर्यावरणीय बहस, मीडिया अभियान और राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय मंचों पर संवाद के ज़रिए अपनी आवाज़ बुलंद कर रहे हैं। नर्मदा बचाओ आंदोलन, POSCO विरोध आंदोलन, और डोंगरिया कोंध आंदोलन जैसे समकालीन संघर्षों ने भूमि, जल और पर्यावरण को लेकर विकास की पुनर्परिभाषा की माँग की है। इन आंदोलनों ने यह सवाल खड़ा किया है कि क्या आर्थिक विकास की कीमत पर सामाजिक और सांस्कृतिक विनाश उचित है? इसी संदर्भ में, जनजातीय आंदोलनों ने भारतीय लोकतंत्र और सामाजिक न्याय को एक नई दिशा प्रदान की है। ये आंदोलन हाशिए पर पड़े समुदायों की आवाज़ बनकर लोकतंत्र के मूल सिद्धांतों— समानता, भागीदारी और न्याय— को ज़मीनी रूप देते हैं। जब आदिवासी महिलाएं अपने गांवों को शराब और खनन से मुक्त करने के लिए सड़क पर उतरती हैं, या जब आदिवासी युवक जंगल के अधिकारों के लिए जनसुनवाई आयोजित करते हैं, तब वे लोकतंत्र की परिभाषा को व्यापक बनाते हैं। इन आंदोलनों ने भारतीय राज्य को यह समझाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है कि बिना जनसहमति, पुनर्वास और सामाजिक समझदारी के कोई भी विकास टिकाऊ नहीं हो सकता। इस प्रकार, समकालीन भारत में जनजातीय आंदोलन केवल किसी विशेष वर्ग की मांग नहीं हैं, बल्कि वे एक समावेशी, न्यायपूर्ण और टिकाऊ भविष्य की तलाश में उठाई गई आवाज़ हैं। ये संघर्ष हमारी लोकतांत्रिक चेतना को जगाते हैं, विकास की नीतियों को मानवीय दृष्टिकोण से पुनः परखने के लिए प्रेरित करते हैं, और यह सुनिश्चित करते हैं कि आदिवासी समाज केवल इतिहास की गाथाओं का हिस्सा न बनें, बल्कि वर्तमान और भविष्य के भारत की दिशा निर्धारित करने वाले सशक्त भागीदार बनें।[15].

निष्कर्ष

भारत के ऐतिहासिक जनजातीय आंदोलन हमारे लोकतांत्रिक समाज की उस गूंजती आवाज़ का प्रतीक हैं, जो सदियों से शोषण, भेदभाव और उपेक्षा के विरुद्ध संघर्ष करती आई है। इन आंदोलनों ने यह स्पष्ट कर दिया कि आदिवासी समुदाय केवल जंगलों और पर्वतों में रहने वाले लोग नहीं हैं, बल्कि वे भारत की संस्कृति, इतिहास और प्रकृति से गहरे जुड़े हुए संरक्षक हैं। संथाल, भील, मुंडा, गोंड, बोडो जैसे समुदायों द्वारा किए गए विद्रोह और आंदोलनों ने न केवल औपनिवेशिक दमन और राजनैतिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई, बल्कि स्वतंत्र भारत में भी विकास के नाम पर विस्थापन, अधिकारों की अनदेखी और पर्यावरण विनाश जैसे मुद्दों पर सरकार और समाज का ध्यान खींचा। इन आंदोलनों ने नेतृत्व क्षमता, सामाजिक संगठन और वैकल्पिक विकास की अवधारणाओं को जन्म दिया। 'जल, जंगल और जमीन' के मुद्दे आज भी प्रासंगिक हैं और जनजातीय समुदायों की पहचान व अस्तित्व के केंद्र में बने हुए हैं। इन संघर्षों ने भारत के संविधान में अनुसूचित

जनजातियों को विशेष अधिकार दिलाने में अहम भूमिका निभाई और समाज में हाशिए पर रह रहे समुदायों को मुख्यधारा से जोड़ने की दिशा में मजबूत नींव रखी। आज जब हम समावेशी विकास और सामाजिक न्याय की बात करते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम जनजातीय आंदोलनों के इतिहास से सीखें और उनके योगदान को मान्यता दें। यह न केवल ऐतिहासिक सम्मान है, बल्कि एक न्यायपूर्ण और संवेदनशील भविष्य की ओर बढ़ने का रास्ता भी है।

संदर्भ

1. डैश, एस.सी. (2006) – *भारत में जनजातीय आंदोलन: एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण*। नई दिल्ली: डॉमिनेंट पब्लिशर्स।
2. एक्का, एलेक्सियस (2000) – *जनजातीय आंदोलन: भारत में समस्याएं और संभावनाएं*। इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट।
3. भुक्या, भांग्या (2007) – *वश में किए गए घुमंतू: निज़ाम शासन के अधीन लांबाड़ा समुदाय*। ओरिएंट लॉन्गमैन।
4. सुंदर, नंदिनी (2016) – *जलता हुआ जंगल: बस्तर में भारत का युद्ध*। जगर्नॉट बुक्स।
5. ज़ाक्सा, वर्जिनियस (2008) – *राज्य, समाज और जनजातियाँ: उत्तर-औपनिवेशिक भारत में मुद्दे*। पियरसन एजुकेशन।
6. भारत सरकार (2006) – *अनुसूचित जनजातियाँ और अन्य पारंपरिक वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006*।
7. पति, बिस्वमोय और मार्कहम, बैरी (2003) – *आदिवासी प्रश्न: भारत में भूमि, जंगल और पहचान के मुद्दे*। ओरिएंट ब्लैकस्वान।
8. सिंह, के.एस. (सम्पा.) (2003) – *पीपुल ऑफ इंडिया: अनुसूचित जनजातियों पर राष्ट्रीय श्रृंखला*। भारतीय मानवविज्ञान सर्वेक्षण।
9. तिवारी, आर. (2002) – *भारत में जनजातीय आंदोलन और राजनीतिक мо6िलाइजेशन*। रावत पब्लिकेशन्स।
10. शाह, घनश्याम (सम्पा.) (2002) – *सामाजिक आंदोलन और राज्य*। सेज पब्लिकेशन्स।

11. पैडल, फेलिक्स और दास, समरेन्द्र (2010) – *इस धरती से बाहर: पूर्वी भारत के आदिवासी और एल्युमिनियम कॉर्पोरेशन*। ओरिएंट ब्लैकस्वान।

12. गीता, वी. और राजादुरई, एस.वी. (2008) – *एक गैर-ब्राह्मण सहस्त्राब्दी की ओर: अय्योथी थास से पेरियार तक*। साम्या।

13. दास, वीणा (सम्पा.) (2006) – *भारतीय समाजशास्त्र का हैण्डबुक*। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

14. मेहता, लैला (2009) – *विकास द्वारा विस्थापन: हाशिएकरण और लैंगिक अन्याय का सामना*। सेज पब्लिकेशन्स।

15. शर्मा, जे.पी. (2000) – *संथाल विद्रोह (1855–57)*। नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।

16. कुजूर, जोसेफ मरियनस (2005) – *समावेश की राजनीति: भारत में आदिवासी और राज्य*। इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट।

17. कुमार, ए. (2013) – *भारत में जनजातीय आंदोलन: दृष्टि और चुनौतियाँ*। अभिजीत पब्लिकेशन्स।